श्रावक-आचार की प्रासङ्गिकता का प्रश्न

गृहस्थ-वर्ग का उत्तरदायित्व

जैन धर्म श्रमण-परम्परा का धर्म है। दूसरे शब्दों में वह निवृत्तिमार्गी या संन्यासमार्गी धर्म है। यह बात भी निस्संकोच रूप से स्वीकार की जा सकती है कि वैदिक-परम्परा के विपरीत इसमें संन्यास को ही जीवन का चरम आदर्श स्वीकार किया गया है; किन्तु इस आधार पर यह निष्कर्ष निकाल लेना कि जैनधर्म में गृहस्थ या उपासक वर्ग का महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है, अनुचित ही होगा। चाहे जैनधर्म के प्रारम्भिक युग में संन्यास को अधिक महत्ता मिली हो, किन्तु आगे चलकर जैन-परम्परा में गृहस्थ धर्म को भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो गया। जैन धर्म में जो चतुर्विध सङ्घ व्यवस्था हुई उसमें साधु-साध्वियों के साथ ही साथ श्रावकों और श्राविकाओं को भी स्थान दिया गया। मात्र यही नहीं, श्रावक और श्राविकाओं को श्रमणों और श्रमणियों के माता-पिता के रूप में स्वीकार किया गया। दूसरे शब्दों में उन्हें साधु-साध्वियों का संरक्षक मान लिया गया। वैदिक परम्परा में भी गृहस्थ आश्रम को सभी आश्रमों का मूल बताया गया था। प्रकारान्तर से इसे जैन परम्परा में गृहस्थ वर्ग को श्रमण वर्ग का संरक्षक एवं आधार मानकर स्वीकार कर लिया गया। जैन परम्परा में गृहस्थ उपासक न केवल इसलिए महत्त्वपूर्ण था कि वह श्रमणों के भोजन, स्थान आदि आवश्यकताओं की पूर्ति करता था अपितु उसे श्रमण साधकों के चारित्र का प्रहरी भी मान लिया गया। कुछ समय पूर्व तक श्रावक वर्ग की यह महत्ता अक्षुण्ण थी। उसे यह अधिकार प्राप्त था कि यदि कोई साधु या साध्वी श्रमण मर्यादाओं का सम्यक्रूपेण पालन नहीं करता है तो वह उनका वेश लेकर उन्हें श्रमण संघ से पृथक् कर दे। इसी प्रकार मुनि एवं आर्यिका वर्ग में प्रवेश के लिए भी श्रावक संघ की अनुमति आवश्यक थी।

वर्तमान युग में साधु-साध्वियों के आचार में जो शिथिलता होती जा रही है, उसका एकमात्र कारण यही है कि गृहस्थवर्ग मुनि आचार से अवगत न रहने के कारण अपने उपर्युक्त कर्तव्य को भूल गया है। आज हमें इस बात को बहुत स्पष्ट रूप से समझ लेना होगा कि जैनधर्म और संस्कृति की रक्षा का दायित्व मुनिवर्ग की अपेक्षा गृहस्थ वर्ग पर ही अधिक है और यदि वह अपने इस दायित्व की उपेक्षा करेगा, तो अपनी संस्कृति एवं धर्म की सुरक्षा करने में असफल रहेगा।

यह तो हुआ केवल समाज या संघ व्यवस्था की दृष्टि से श्रावक वर्ग का महत्त्व एवं उत्तरदायित्व। किन्तु न केवल सामाजिक दृष्टि से अपितु आध्यात्मिक एवं साधनात्मक दृष्टि से भी गृहस्थ का स्थान उतना निम्न नहीं है, जितना कि सामान्यतया मान लिया जाता है। सूत्रकृतांग (२/२/३९) में स्पष्ट रूप से निर्देश है कि 'आरम्भ नो आरम्भ' (गृहस्थधर्म) का यह स्थान भी आर्य है तथा समस्त दु:खों का अन्त करने वाला मोक्षमार्ग है। यह जीवन भी पूर्णतया सम्यक् एवं साधु है।[१] मात्र यही नहीं, उत्तराध्ययनसूत्र (५/२०) में तो स्पष्ट रूप से यहाँ तक कह दिया गया है कि चाहे सभी सामान्य गृहस्थों की अपेक्षा श्रमणों को श्रेष्ठ मान लिया जाये किन्तु कुछ गृहस्थ ऐसे भी हैं, जो श्रमणों की अपेक्षा संयम के परिपालन में श्रेष्ठ होते हैं।[२] बात स्पष्ट और साफ है कि आध्यात्मिक साधना का सम्बन्ध न केवल वेश से है और न केवल आचार के बाह्य नियम से। यद्यपि समाज या संघ-व्यवस्था की दृष्टि में बाह्य आचार-नियमों का पालन आवश्यक है। उत्तराध्ययनसूत्र (३६/४९) में स्पष्ट रूप से यह बात भी स्वीकार कर ली गयी है कि गृहस्थ जीवन से भी निर्वाण को प्राप्त किया जा सकता है।[३] इस सम्बन्ध में मरुदेवी और भरत के उदाहरण लोकविश्रुत हैं। यदि गृहस्थ धर्म से श्री परिनिर्वाण या मुक्ति सम्भव है तो इस विवाद का कोई अधिक मूल्य नहीं रह जाता कि मुनि धर्म और गृहस्थ धर्म में साधना का कौन सा मार्ग श्रेष्ठ है। वस्तुत: आध्यात्मिक विकास के क्षेत्र में श्रेष्ठता और निम्नता का आधार आध्यात्मिक जागरूकता, अप्रमत्तता और निराकुलता है, जिसने अपनी विषय-वासनाओं और कषायों पर नियन्त्रण पा लिया है, जिसका चित्त निराकुल और शान्त हो गया है, जो अपने कर्तव्यपथ पर पूरी ईमानदारी से चल रहा है, फिर चाहे वह गृहस्थ हो या मुनि, उसकी आध्यात्मिक श्रेष्ठता में कोई अन्तर नहीं पड़ता। आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में न तो वेश महत्त्वपूर्ण है और न बाह्य आचार, अपितु उसमें महत्त्वपूर्ण है 'अन्तरात्मा की निर्मलता और विशुद्धता'। अन्त:करण की निर्मलता ही साधना का मूलभूत आधार है।

गृहस्थ धर्म की श्रेष्ठता का प्रश्न

गृहस्थधर्म और मुनिधर्म में यदि साधना की दृष्टि से हम श्रेष्ठता की बात करें तो भी वस्तुत: गृहस्थ जीवन ही अधिक श्रेष्ठ प्रतीत होगा। वीतरागता की साधना के लिए संन्यास एक निरापद मार्ग है, क्योंकि गृहस्थ जीवन में रहकर वीतरागता की साधना करना अधिक कठिन है। क्योंकि साधक जीवन में विघ्नों से दूर रहकर निर्दोष चरित्र का पालन करना उतना कठिन नहीं है, जितना कि विघ्नों के बीच रहकर उसका पालन करना। संन्यास मार्ग एक ऐसा मार्ग है, जिसमें अनासक्ति या वीतरागता की साधना के लिए विघ्न-बाधाओं की सम्भावना कम होती है। संन्यासमार्ग की साधना कठोर होते हुए भी सुसाध्य है, जबकि गृहस्थ मार्ग की साधना व्यावहारिक दृष्टि से सुसाध्य प्रतीत होते हुए भी दु:साध्य है, क्योंकि आध्यात्मिक विकास के लिए जिस अनासक्त चेतना की आवश्यकता है, वह संन्यस्त जीवन में सहज प्राप्त हो जाती है, उसमें चित्त विचलन के अवसर अतिन्यून होते हैं, जब कि गृहस्थ जीवन में चित्त-विचलन के अवसर अत्यधिक हैं। गिरि-कन्दरा में रहकर ब्रह्मचर्य का पालन उतना कठिन नहीं है, जितना कि नारियों (सुन्दरियों) के मध्य रहकर उनका पालन करना। प्रेमिका वेश्या के घर में चातुर्मास के लिए स्थित होकर ब्रह्मचर्य की साधना करने वाले

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थूलभद्र को उन सैकड़ों-हजारों मुनियों की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ माना गया, जो गिरिकन्दराओं में रहकर मुनिधर्म की साधना कर रहे थे। क्या विजय सेठ और सेठानी की ब्रह्मचर्य की कठोर साधना की तुलना किसी गृहस्थ जीवन का परित्याग करने वाले मुनि की ब्रह्मचर्य साधना से की जा सकती है? राग-द्वेष, आसक्ति और ममत्व के प्रसंगों की उपस्थिति गृहस्थ जीवन में अधिक होती है। उन प्रसंगों में भी जो अपने को निराकुल और नियंत्रित रख सकता है, वह महान् है।

संन्यास मार्ग में तो इन प्रसंगों की उपस्थिति के अवसर ही अत्यल्प होते हैं। अत: संन्यास मार्ग निरापद और सरल है। गृहस्थ धर्म से आध्यात्मिक विकास की ओर जाने वाला मार्ग फिसलन भरा है, जिसमें कदम-कदम पर सजगता की आवश्यकता है। यदि साधक एक क्षण के लिए भी वासना के आवेगों में नहीं संभला तो उसका पतन हो जाता है। वासनाओं के बवण्डर के मध्य रहते हुए भी उनसे अप्रभावित रहना सरल नहीं है। अत: कह सकते हैं कि गृहस्थ जीवन की साधना मुनि जीवन की साधना की अपेक्षा अधिक दु:साध्य है और जो ऐसे साधना-पथ पर चलकर आध्यात्मिक उच्चता को प्राप्त करता है वह मुनियों की अपेक्षा कई गुना श्रेष्ठ है।

वस्तुत: गृहस्थ धर्म का पालन इसलिए अधिक दु:साध्य है कि उसमें काजल की कोठरी में रहकर भी अपनी चरित्र रूपी चादर को बेदाग रखना होता है। काजल की कोठरी से बाहर रहकर तो कोई भी चरित्र रूपी चादर को बेदाग रख सकता है, किन्तु कोठरी में रहते हुए उसे बेदाग रख पाना अधिक सजगता और आत्मनियन्त्रण की अपेक्षा रखता है। फिसलन भरे रास्ते में चलकर जो साधना की ऊँचाइयों तक पहुँचता है, उसकी महत्ता तो कुछ और है। संसाररूपी और वासनारूपी कर्दम में रहकर भी कमलपत्र के समान अलिप्त रहना निश्चय ही एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

यद्यपि मेरे यह सब कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि मैं मुनि जीवन की महत्ता और गरिमा को नकार रहा हूँ, इस विषय-वासनारूपी काजल की कोठरी से निकलकर उन पर नियन्त्रण कर लेना भी कम महत्त्वूपर्ण नहीं है। मुनि जीवन की अपनी साधनागत गरिमा और महत्ता है, उसे मैं अस्वीकार नहीं करता। मेरे कहने का तात्पर्य यही है कि जो गृहस्थ जीवन में रहकर भी साधना की उन्हीं आध्यात्मिक ऊँचाइयों को छू लेता है, जिसे एक मुनि छूता है तो वह गृहस्थ मुनि से श्रेष्ठ है। उत्तराध्ययन में गृहस्थ को मुनि की अपेक्षा जो श्रेष्ठ कहा गया है, वह इसी अपेक्षा से कहा गया है।

अपनी अस्मिता को पहचाने

गृहस्थ धर्म की इस महत्ता के प्रतिपादन का एकमात्र उद्देश्य यही है कि हम अपने पद की महत्ता और गरिमा को समझें। वर्तमान संदर्भो में इस महत्ता और गरिमा का प्रतिपादन इसलिए आवश्यक है कि आज का श्रावक वर्ग न केवल अपने कर्तव्यों और दायित्वों को भूल बैठा है, अपितु वह अपनी अस्मिता को भी खो बैठा है। आज ऐसा समझा जाने लगा है कि धर्म और संस्कृति का संरक्षण तथा आध्यात्मिक साधना सभी कुछ साधुओं का काम है। गृहस्थ तो मात्र उपासक है, उसके कर्तव्य की इतिश्री साधु-साध्वियों को दान देने तक ही है। आज हमें इस बात का अहसास करना होगा कि जैन धर्म की संघ-व्यवस्था में हमारा क्या और कितना गरिमामय स्थान है? खाट के चार पायों में अगर एक चरमराता और टूटता है तो दूसरों का अस्तित्व निरापद नहीं रह सकता। यदि श्रावक वर्ग अपने कर्तव्यों, दायित्वों एवं अपनी गरिमा को विस्मृत करता है तो संघ के शेष घटकों का अस्तित्व भी निरापद नहीं रह सकता। आज के साधुवर्ग और श्रावकवर्ग की स्थिति को देखकर यह शेर बरबस याद आ जाता है—

हम तो डूबेंगे सनम, तुम्हें भी ले डूबेंगे।

आज वास्तविक स्थिति यह है कि हमारा श्रमण और श्रमणी वर्ग भी शिथिलाचार में आकण्ठ डूबता जा रहा है। यदि कोई उसके अन्दर झांक कर देखता है तो उसके अन्दर रही हुयी सड़ांध से अपना मुँह नफ़रत से फेर लेता है। आज जिन्हें हम आदर्श और वन्दनीय मान रहे हैं, उनके जीवन में छल, छद्म, दुराग्रह एवं अहं के पोषण की प्रवृत्तियाँ और वासनामय जीवन के प्रति ललक को देखकर मन पीड़ा से भर उठता है, किन्तु उनके इस पतन का उत्तरदायी दूसरा कोई नहीं, श्रावक वर्ग ही है। या तो हमने उन्हें इस पतन के मार्ग की ओर ढकेला है या फिर कम से कम उनके सहभागी बने हैं। साधु-साध्वियों में शिथिलाचार हमारे प्रश्रय से बढ़ता है, यह सत्य है कि आज श्रावक, उनमें भी विशेष रूप से सम्पन्न श्रावक-वर्ग धर्म के नाम पर होने वाले बाह्याडम्बरों में अधिक रुचि ले रहा है— उनकी और उनके तथाकथित गुरुओं दोनों की रुचि धर्म के नाम पर अपने-अपने अहं का पोषण करने की है। वही साधु और वही श्रावक अधिक प्रतिष्ठित होता है, जो जितनी भीड़ इकट्ठी करता है। जो मजमा जमाने में जितना अधिक कुशल है, वही उतना अधिक प्रतिष्ठित है। इन सब में साधना-प्रिय साधु और श्रावक तो कहीं ओझल हो गये हैं। मैं यह सब जो कुछ कह रहा हूँ उसका कारण मुनिवर्ग के प्रति मेरी दुर्भावना नहीं है, अपितु उस यथार्थता को देखकर मन में जो एक पीड़ा और व्यथा है, उसी का प्रकटन है। बाल्यकाल से लेकर जीवन की इस प्रौढ़ावस्था तक मैंने जैन मुनि संघ को अति निकट से देखा और परखा है एवं उस निकटता में मैंने जो कुछ अनुभव किया है, उसी यथार्थता की बात कह रहा हूँ। हो सकता है कि इसके कुछ अपवाद हों, लेकिन सामान्य स्थिति यही है। जीवन का दोहरापन आज मुनिवर्ग का यथार्थ बनता जा रहा है, लेकिन इस सबके लिए मैं अपने को और अपने साथ ही गृहस्थ वर्ग को अधिक उत्तरदायी मानता हूँ।

आज गृहस्थ वर्ग न केवल अपने संरक्षक होने के दायित्व को भूला है, अपितु वह स्वयं अपनी अस्मिता को खोकर चारित्रिक पतन की ओर तेजी से गिरता जा रहा है। जब हम ही नहीं संभलेंगे तो दूसरों को संभालने की बात क्या करेंगे। आज का गृहस्थ वर्ग जिस पर जैन धर्म और संस्कृति के संरक्षण का दायित्व है, उसका ज्ञान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और आचारण दोनों ही दिशाओं में तेजी से पतन हुआ है। आज हमारी स्थिति यह है कि हमें न तो श्रमण जीवन के नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों का बोध है और न हम गृहस्थ जीवन के आवश्यक कर्तव्यों और दायित्वों के सन्दर्भ में भी कोई जानकारी रखते हैं। आगम-ज्ञान तो बहुत दूर की बात है, हमें श्रावक-जीवन के सामान्य नियमों का भी बोध नहीं है। दूसरी ओर जिन सप्त व्यसनों से बचना श्रावक-जीवन की सर्वप्रथम भूमिका है और आध्यात्मिक साधना का प्रथम चरण है और जिनके आधार पर वैयक्तिक, पारिवारिक और सामाजिक सुख-शान्ति निर्भर है, वे दुर्व्यसन तेजी से समाज में प्रविष्ट होते जा रहे हैं और वे जितनी तेजी से व्याप्त होते जा रहे हैं वह हमारे धर्म और संस्कृति के अस्तित्व के लिए एक बहुत बड़ा खतरा है। जैन परिवारों में प्रविष्ट होता हुआ मद्यपान और सामिष आहार क्या हमारी सांस्कृतिक गरिमा के मूल पर ही प्रहार नहीं है? किसी भी धर्म और संस्कृति का टिकाव और विकास उसके ज्ञान और चरित्र के दो पक्षों पर निर्भर करता है, किन्तु आज का गृहस्थ वर्ग इन दोनों ही क्षेत्रों में तेजी से पतन की ओर बढ़ रहा है। आज स्थिति यह है कि धर्म केवल दिखावे में रह गया है। वह जीवन से समाप्त होता जा रहा है। किन्तु हमें यह याद रखना होगा कि धर्म यदि जीवन में नहीं बचेगा तो उसका बाह्य कलेवर बहुत अधिक दिनों तक कायम नहीं रह पायेगा। जिस प्रकार शरीर से चेतना के निकल जाने के बाद शरीर सड़ांध मारने लगता है, वही स्थिति आज धर्म की हो रही है। कुछ व्यक्तिगत उदाहरणों को छोड़कर यदि सामान्य रूप से कहूँ तो आज चाहे वह मुनि वर्ग हो या गृहस्थ वर्ग, जीवन से धर्म की आत्मा निकल चुकी है। हमारे पास केवल धर्म का कलेवर शेष बचा है और हम उसे ढो रहे हैं। यह सत्य है कि विगत कुछ वर्षों में धर्म के नाम पर शोर-शराबा बढ़ा है, भीड़ अधिक इकट्ठी होने लगी है, मजमें जमने लगे हैं। किन्तु मुझे ऐसा लगता है कि यह सब धर्म के कलेवर की अन्त्येष्टि की तैयारी से अधिक कुछ नहीं है।

सम्भवत: अब हमें सावधान हो जाना चाहिए, अन्यथा हम अपने अस्तित्व को खो चुके होंगे। जैसा कि मैंने पूर्व में कहा इस सबके लिए अन्तिम रूप से कोई भी उत्तरदायी ठहराया जायेगा तो वह गृहस्थ वर्ग ही होगा। जैनधर्म में गृहस्थ वर्ग की भूमिका दोहरी है। वह साधक भी है और साधकों का प्रहरी भी। आज जब हम श्रावक धर्म की प्रासंगिकता की चर्चा करना चाहते हैं तो हमें पहले उस यथार्थ की भूमिका को देख लेना होगा, जहाँ आज का श्रावक वर्ग जी रहा है। श्रावक जीवन के जो आदर्श और नियम हमारे आचार्यों ने प्रस्तुत किये हैं, उनकी प्रासंगिकता तो आज भी उतनी ही है; जितनी उस समय थी, जबकि उनका निर्माण किया गया होगा। क्या सप्त दुर्व्यसनों के त्याग, मार्गानुसारी गुणों के पालन एवं श्रावक के अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रतों की उपयोगिता और प्रासंगिकता को कभी भी नकारा जा सकता है? वे तो मानव जीवन के शाश्वत मूल्य हैं, उनके अप्रासंगिक होने का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता है।

सम्यग्दर्शन : गृहस्थ-धर्म का प्रवेशद्वार

श्रावक धर्म की भूमिका को प्राप्त करने के पूर्व सम्यग्दर्शन की प्राप्ति आवश्यक मानी गई है। जैन परम्परा में सम्यग्दर्शन के अर्थ में एक विकास देखा जाता है। सम्यग्दर्शन का प्राथमिक अर्थ आग्रह और व्यामोह से रहते, यथार्थ दृष्टिकोण रहा है, वह यथार्थ वीतराग जीवन दृष्टि था। कालान्तर में वह जिनप्रणीत तत्त्वों के प्रति निश्चल श्रद्धा के रूप में प्रचलित हुआ। वर्तमान सन्दर्भो में सम्यक् दर्शन का अर्थ देव, गुरु और धर्म के प्रति श्रद्धा है। सामान्यतया वीतरागी को देव, निर्ग्रन्थ मुनि को गुरु और अहिंसा को धर्म मानने को सम्यक् दर्शन कहा गया है। यह सत्य है कि साधना के क्षेत्र में बिना अटल श्रद्धा या निश्चल आस्था के आगे बढ़ना सम्भव नहीं है। 'संशयात्मा विनश्यति' की उक्ति सत्य है। जब तक साधक में श्रद्धा का विकास नहीं होता, तब तक वह साधना के क्षेत्र में प्रगति नहीं कर सकता, न केवल धर्म के क्षेत्र में श्रद्धा की आवश्यकता है अपितु हमारे व्यावहारिक जीवन में भी वह आवश्यक है। वैज्ञानिक गवेषणा का प्रारम्भ बिना किसी परिकल्पना (Hypothesis) की स्वीकृति के नहीं होता है। गणित के अनेक सवालों को हल करने के लिए प्रारम्भ में हमें मानकर ही चलना होता है। कोई भी व्यवसायी बिना इस बात पर आस्था रखे कि ग्राहक आयेंगे और माल बिकेगा, अपने व्यवसाय का प्रारम्भ नहीं कर सकता। कोई भी पथिक अपने गन्तव्य को जाने वाले मार्ग के प्रति आस्थावान् हुए बिना उस दिशा में कोई गति नहीं करता। लोक-जीवन और साधना सभी क्षेत्रों में आस्था और विश्वास अपेक्षित है, किन्तु हमें आस्था (श्रद्धा) और अन्धश्रद्धा में भेद करना होगा। जैन आचार्यों ने गृहस्थोपासक के लिए जिस सम्यक् श्रद्धा की आवश्यकता बताई, वह विवेक-समन्वित श्रद्धा है। आचार्य समन्तभद्र ने अपने श्रावकाचार में धर्म के नाम पर प्रचलित लौकिक मूढ़ताओं से बचने का स्पष्ट निर्देश किया है। किन्तु वर्तमान सन्दर्भों में हमारा सम्यक् दर्शन स्वयं इन मूढ़ताओं से आक्रान्त होता जा रहा है। आज सम्यक् दर्शन को, जो कि एक आन्तरिक आध्यात्मिक अनुभूति से फलित उपलब्धि है, लेन-देन की वस्तु बना दिया गया है। आज हमारे तथाकथित गुरुओं के द्वारा सम्यक्त्व दिया और लिया जा रहा है। कहा जाता है कि "अमुक गुरु का सम्यक्त्व वोसरा दो (छोड़ दो) और हमारा सम्यक्त्व ग्रहण कर लो" यह तो सत्य है कि गुरुजन साधक को देव, गुरु और धर्म का यथार्थ स्वरूप बता सकते हैं, किन्तु सम्यक्त्व भी कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जिसे किसी को दिया और लिया जा सकता है। मेरी तुच्छ बुद्धि में यह बात समझ में नहीं आती है कि सम्यक्त्व क्या कोई बाहरी वस्तु है, जिसे कोई दे या ले सकता है। सम्यक्त्व परिवर्तन के नाम पर आज जो साम्प्रदायिक घेराबन्दी की जा ही है, वह मिथ्यात्व के पोषण के अतिरिक्त अंन्य कुछ नहीं है। उसके आधार पर श्रावकों में दरार डाली जा रही है और लोगों के मन में यह बात बैठायी जा रही है कि हम ही केवल सच्चे गुरु हैं और हम जो कह रहे हैं, वह वीतराग की वाणी है। सम्यक्त्व के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यथार्थ स्वरूप से अनभिज्ञ हम गुरुडमवाद के दलदल में फंसते चले जा रहे हैं।

आज वीतरागता के प्रति हमारी श्रद्धा कितनी जर्जर हो चुकी है, इसका प्रमाण यही है कि आज सामान्य मुनिजनों, आचार्यों से लेकर गृहस्थ उपासक तक सभी लौकिक एषणाओं की पूर्ति के लिए वीतराग की निष्काम भक्ति को भूलकर तीर्थङ्कर या देवी-देवताओं की सकाम-भक्ति में लगे हुए हैं। आज वीतराग तीर्थङ्कर देव के स्थान पर पद्मावती, चक्रेश्वरी, भौमिया जी, घंटाकर्ण महावीर और नाकोड़ा भैरव अधिक महत्त्वपूर्ण हो गये हैं। हमारे अधिकांश साधु-साध्वी ही नहीं, आचार्य तक यक्षों और देवियों की साधना में लगे हुए हैं। वीतरागता के उपासक इस धर्म में आज यन्त्र-मन्त्र व जादू-टोना सभी कुछ प्रविष्ट होते जा रहे हैं। वीतरागता के साधक कहे जाने वाले मुनिजन भी अपनी चमत्कार-शक्ति का बड़े गौरव के साथ बखान करते हैं। जिस धर्म की उत्पत्ति लौकिक मूढ़ताओं और अन्ध-श्रद्धाओं को समाप्त करने के लिए हुई हो, वही आज अन्ध-विश्वासों में आकण्ठ डूबता जा रहा है। हमारी आस्थाएँ वीतरागता के साथ न जुड़कर लौकिक-एषणाओं की पूर्ति के लिए जुड़ रही हैं। आज महावीर के पालने की अपेक्षा लक्ष्मी जी का स्वप्न महंगा बिकता है। अगर हमारी आस्थाएँ धर्म के नाम पर लौकिक एषणाओं की पूर्ति तक ही सीमित हैं, तब फिर हमारा वीतराग के उपासक होने का दावा करना व्यर्थ है। आज जब हम गृहस्थ धर्म की प्रासंगिकता की चर्चा करना चाहते हैं, हमें इस यथार्थ स्थिति को समझ लेना होगा। जीवन में या साधना के क्षेत्र में सम्यक् श्रद्धा की कितनी आवश्यकता है? यह निर्विवाद रूप से सिद्ध है, किन्तु श्रद्धा के नाम पर अन्धविश्वासों का जो एक दुश्चक्र हम पर हावी होता जा रहा है, उससे कैसे बचा जाय? यही आज का महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। वस्तुत: इस सबका मूल कारण यह है कि आज श्रावक वर्ग को धर्म के यथार्थ स्वरूप का कोई बोध नहीं रह गया है। हमारी श्रद्धा समझपूर्वक स्थिर नहीं हो रही है, श्रद्धा का तत्त्व व्यक्ति का आध्यात्मिक विकास कर सकता है, लेकिन वह तभी सम्भव है जब श्रद्धा ज्ञानसम्मत हो और हमारी विवेक की आंखें खुली हों। आज हम उस उक्त को भूल गये हैं, जिसमें कहा गया है कि 'पण्णा समिक्खए धम्मो' अर्थात् धर्म के स्वरूप की प्रज्ञा के द्वारा समीक्षा करो।

कषाय-जय : गृहस्थ धर्म की साधना की आधार-भूमि

श्रावक धर्म और उसकी प्रासंगिकता की चर्चा करते समय हमें श्रावक-आचार के मूलभूत नियमों की वर्तमान युग में क्या उपयोगिता है? इस पर विचार कर लेना होगा। जैन धर्म के अनुसार श्रावकत्व की भूमिका को प्राप्त करने के लिए सर्व प्रथम व्यक्ति को क्रोध, मान, माया और लोभ-इन चार कषायों की अतितीव्र, अनियन्त्रित, नियन्त्रित और अत्यल्प इन चार अवस्थाओं में से प्रथम दो अवस्थाओं पर विजय-प्राप्ति अपरिहार्य माना गया है। साधक जब तक अपने क्रोध, मान, माया और लोभ पर नियन्त्रण रखने की क्षमता को विकसित नहीं कर लेता, तब तक श्रावकत्व की भूमिका को प्राप्त करने योगय नहीं होता है। श्रावक धर्म के पालन के लिए उपर्युक्त चतुर्विध कषायों पर नियन्त्रण की क्षमता का विकास आवश्यक है। जब तक व्यक्ति अपने क्रोध, मान, माया, लोभ—इन चार कषायों पर किसी भी प्रकार का नियन्त्रण कर पाने में अक्षम होता है, तब तक वह श्रावक धर्म की साधना नहीं कर सकता। क्रोध, मान, माया और लोभ की प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण कर लेने की क्षमता का विकसित हो जाना ही श्रावक धर्म की उपलब्धि का प्रथम चरण है।

वर्तमान सन्दर्भों में इन चारों अशुभ आवेगों के नियन्त्रण की उपयोगिता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। जैनागमों के अनुसार क्रोध का तत्त्व पारस्परिक सौहार्द (प्रीति) को समाप्त करता है और सौहार्द के अभाव में एक दूसरे के प्रति सन्देह और आशंका होती है। यह स्पष्ट है कि सामाजिक जीवन में पारस्परिक अविश्वास और आशंकाओं के कारण असुरक्षा का भाव पनपता है और फलत: हमें अपनी शक्ति का बहुत कुछ अपव्यय करना पड़ता है। आज अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में जो शस्त्र-संग्रह और सैन्य-बल बढ़ाने की प्रवृत्ति परिलक्षित हो रही है और जिस पर अधिकांश राष्ट्रों की राष्ट्रीय आय का ५० प्रतिशत के अधिक व्यय हो रहा है, वह सब इस पारस्परिक अविश्वास का परिणाम है। आज धार्मिक और सामाजिक जीवन में जो असहिष्णुता है, उसके मूल में घृणा, विद्वेष एवं आक्रोश का तत्त्व ही है। यह ठीक है कि व्यक्ति जब तक परिवार, समाज एवं राष्ट्र से जुड़ा है, उसमें किसी सीमा तक क्रोध या आक्रोश होना आवश्यक है, अन्यथा उसका अस्तित्व ही खतरे में होगा, किन्तु उसे नियन्त्रण में होना चाहिये और अपरिहार्य स्थिति में ही उसका प्रकटन होना चाहिये।

हमारे पारस्परिक सामाजिक सम्बन्धों में दरार का दूसरा महत्त्वपूर्ण कारण व्यक्ति का अहंकार या घमण्ड है। एक गृहस्थ के लिए यह आवश्यक है कि वह अपनी अस्मिता एवं स्वाभिमान का बोध रखे, किन्तु उसे अपने अहंकार पर नियन्त्रण रखना आवश्यक है। समाज में जो विघटन या टूटन पैदा होती है, उसका मुख्य कारण समाज के कर्णधारों, फिर चाहे वे गृहस्थ हों या मुनि, का अहंकार ही है। अहंकार पारस्परिक विनय एवं सम्मान में भी बाधक होता है। इससे दूसरों के अहं पर चोट पहुँचती है और उसके परिणाम स्वरूप सामाजिक सम्बन्धों में दरार पड़ने लगती है। अहंकार पर चोट लगते ही व्यक्ति अपना अलग अखाड़ा जमा लेता है, जिसके परिणाम स्वरूप धार्मिक एवं साम्प्रदायिक संघर्ष होते हैं। सभी साम्प्रदायिक अभिनिवेशों के पीछे कुछ व्यक्तियों के अपने अहं के पोषण की भावना के अतिरिक्त अन्य कोई कारण नहीं है। कपट-वृत्ति या दोहरा-जीवन वर्तमान सामाजिक जीवन का एक सबसे बड़ा अभिशाप है। झूठे अहं के पोषण के निमित्त अथवा अपने व्यक्तिगत स्वार्थों के साधने के लिए जो छल-छद्म सामाजिक जीवन में बढ़ रहे हैं, उनका मूलभूत कारण कपट-वृत्ति (माया) ही है।

इस प्रकार अनियन्त्रित लोभ संग्रह-वृत्ति का विकास करता है और उसके कारण शोषण पनपता है और परिणाम स्वरूप समाज में गरीब और अमीर की खाई बढ़ती जाती है। पूँजीपति और श्रमिकों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में मध्य होने वाला वर्ग-संघर्ष इसी लोभवृत्ति या संग्रह वृत्ति का परिणाम है। आज जैन समाज में अपरिग्रह की अवधारणा का कोई अर्थ ही नहीं रह गया है। उसे केवल मुनियों के सन्दर्भ में ही समझा जाने लगा है। जैन धर्म में गृहस्थोपासक के लिए धनार्जन का निषेध नहीं किया गया, पर यह अवश्य कहा गया है कि व्यक्ति को एक सीमा से अधिक संचय नहीं करना चाहिए। उसकी संचयवृत्ति या लोभ पर नियन्त्रण होना चाहिए। आज समाज में जो आर्थिक वैषम्य बढ़ता जा रहा है, उसके पीछे अनियन्त्रित लोभ या संग्रह-वृत्ति ही मुख्य है। यदि धनार्जन के साथ ही व्यक्ति की अपने भोग की वृत्ति पर अकुंश होता है और संग्रह-वृत्ति का परिसीमन होता है, तो वह अर्जित धन का प्रवाह लोक-मंगल के कार्यों में बहता है, जिससे सामाजिक सौहार्द और सहयोग बढ़ता है तथा धनवानों के प्रति अभावग्रस्तों के मन में सद्भाव उत्पन्न होता है। जैन धर्म के इतिहास में ऐसे अनेक श्रावक रत्नों के उदाहरण हैं, जिन्होंने अपनी समग्र सम्पत्ति को समाज-हित में समर्पित कर दी, आज उसी आदर्श के पुनर्जागरण की आवश्यकता है।

संक्षेप में सामाजिक जीवन में जो भी विषमता और संघर्ष वर्तमान में हैं, उन सबके पीछे कहीं न कहीं अनियन्त्रित आवेश, अहंकार, छल-छद्म (कपट-वृत्ति) तथा संग्रह-वृत्ति है। इन्हीं अनियन्त्रित कषायों के कारण सामाजिक जीवन में विषमता और अशान्ति उत्पन्न होती है। आवेश या अनियन्त्रित क्रोध के कारण पारस्परिक संघर्ष, आक्रमण, युद्ध एवं हत्याएँ होती हैं। आवेशपूर्ण व्यवहार दूसरों के मन में अविश्वास उत्पन्न करता है। और फलत: सामान्य जीवन में जो सौहार्द होना चाहिए, वह भंग हो जाता है। वर्ग या अहंकार की मनोवृत्ति के कारण ऊँच-नीच का भेद-भाव, पारस्परिक-घृणा और विद्वेष पनपते हैं। सामाजिक जीवन में जो दरारें उत्पन्न होती हैं, उनका आधार अहंकार ही होता है। माया या कपट की मनोवृत्ति भी जीवन को छल-छद्म से युक्त बनाती है। इससे जीवन में दोहरापन आता है तथा अन्त:-बाह्य की एकरूपता समाप्त हो जाती है। फलत: मानसिक एवं समाजिक शांति भंग होती है। संग्रह की मनोवृत्ति के कारण शोषण और व्यावसायिक जीवन में अप्रमाणिकता फलित होती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि श्रावक-जीवन में कषाय-चतुष्टय पर जो नियन्त्रण लगाने की बात कही गई है, वह सौहार्द एवं सामञ्जस्यपूर्ण जीवन एवं मानसिक तथा सामाजिक शान्ति के लिये आवश्यक है। उसकी प्रासंगिकता कभी भी नकारी नहीं जा सकती है।

सप्त दुर्व्यसन-त्याग और उसकी प्रासंगिकता

सप्त दुर्व्यसनों का त्याग गृहस्थ-धर्म की साधना का प्रथम चरण है। उनके त्याग को गृहस्थ-आचार के प्राथमिक नियम या मूल गुणों के रूप में स्वीकार किया गया है। 'वसुनन्दि-श्रावकाचार' में सप्त दुर्व्यसनों के त्याग का विधान किया है। आज भी दुर्व्यसन-त्याग गृहस्थ-धर्म का प्राथमिक एवं अनिवार्य चरण माना जाता है। सप्त दुर्व्यसन निम्न हैं—

१. द्यूत-क्रीड़ा (जुआ), २. मांसाहार, ३. मद्यपान, ४. वेश्यागमन, ५. परस्त्रीगमन, ६. शिकार और ७. चौर्य-कर्म।

उपर्युक्त सप्त दुर्व्यसनों के सेवन से व्यक्ति का कितना चारित्रिक पतन होता है, इसे हर कोई जानता है।

१. द्यूत-क्रीड़ा— वर्तमान युग में सट्टा, लाटरी आदि द्यूत-क्रीड़ा के विविध रूप प्रचलित हो गये हैं। इनके कारण अनेक परिवारों का जीवन संकट में पड़ जाता है। अत: इस दुर्व्यसन के त्याग को कौन अप्रासंगिक कह सकता है। द्यूत-क्रीड़ा के त्याग की प्रासंगिकता के सम्बन्ध में कोई भी विवेकशील मनुष्य दो मत नहीं हो सकता। वस्तुत: वर्तमान युग में द्यूत-क्रीड़ा के जो विविध रूप हमारे सामने उभर कर आये हैं, उनका आधार केवल मनोरंजन नहीं है, अपितु उसके पीछे बिना किसी श्रम के अर्थोपार्जन की दुष्प्रवृत्ति है। सट्टे के व्यवसाय का प्रवेश जैन परिवारों में सर्वाधिक हुआ है। व्यक्ति जब इस प्रकार के धन्धे में अपने को नियोजित कर लेता है, तो श्रमपूर्वक अर्थोपार्जन के प्रति उसकी निष्ठा समाप्त हो जाती है। ऐसी स्थिति में चोरी, ठगी आदि दूसरी बुराइयाँ पनपती हैं। आज इसके प्रकट-अप्रकट विविध रूप हमारे समक्ष आ रहे हैं। उनसे सतर्क रहना आवश्यक है, अन्यथा हमारी भावी पीढ़ी में श्रमपूर्वक अर्थोपार्जन की निष्ठा समाप्त हो जावेगी। यद्यपि इस दुर्गुण का प्रारम्भ एक मनोरंजन के साधन के रूप में होता है, किन्तु आगे चलकर यह भयंकर परिणाम उपस्थित करता है। जैन समाज के सम्पन्न परिवारों में और विवाह आदि के प्रसंगों पर इसका जो प्रचलन बढ़ता जा रहा है, उसके प्रति हमें एक सजग दृष्टि रखनी हागी, अन्यथा इसके दुष्परिणामों को भुगतना होगा; आज का युवावर्ग जो इन प्रवृत्तियों में अधिक रस लेता है, इसके दुष्परिणामों को जानते हुए भी अपनी भावी पीढ़ी को इससे रोक पाने में असफल रहेगा।

२. मांसाहार— विश्व में यदि शाकाहार का पूर्ण समर्थक कोई धर्म है, तो वह मात्र जैन-धर्म है। जैनधर्म में गृहस्थोपासक के लिए मांसाहार सर्वथा त्याज्य माना गया है। किन्तु आज समाज में मांसाहार के प्रति एक ललक बढ़ती जा रही है और अनेक जैन परिवारों में उसका प्रवेश हो गया है। अत: इसकी प्रासंगिकता पर चर्चा करना अति आवश्यक है।

मांसाहार के निषेध के पीछे मात्र हिंसा और अहिंसा का प्रश्न ही नहीं, अपितु अन्य दूसरे भी कारण हैं। यह सत्य है कि मांस का उत्पादन बिना हिंसा के सम्भव नहीं है और हिंसा क्रूरता के बिना सम्भव नहीं है। यह सही है कि मानवीय आहार के अन्य साधनों में भी किसी सीमा तक हिंसा जुड़ी हुई है, किन्तु मांसाहार के निमित्त जो हिंसा या वध किया जाता है, उसके लिए वध-कर्ता का अधिक क्रूर होना अनिवार्य है। क्रूरता के कारण दया, करुणा, आत्मीयता जैसे कोमल गुणों का ह्रास होता है और समाज में भय, आतंक एवं हिंसा का ताण्डव प्रारम्भ हो जाता हैं। यह अनुभूत सत्य है कि वे सभी देश एवं कौमें, जो मांसाहारी हैं और हिंसा जिनके धर्म का एक अंग मान लिया गया है, उनमें होने वाले हिंसक-ताण्डव को देखकर आज भी दिल दहल उठता है। मुस्लिम राष्ट्रों में आज मनुष्य के जीवन का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूल्य गाजर और मूली से अधिक नहीं रह गया है। केवल व्यक्तिगत हितों के लिए ही धर्म और राजनीति के नाम पर वहाँ जो कुछ हो रहा है, वह हम सभी जानते हैं। यदि हम यह मानते हैं कि मानव-जीवन से क्रूरता समाप्त हो और कोमल गुणों का विकास हो, तो हमें उन कारणों को भी दूर करना होगा, जिनसे जीवन में क्रूरता आती है। मांसाहार और क्रूरता पर्यायवाची हैं। यदि दया, करुणा, वात्सल्य का विकास करना है, तो मांसाहार का त्याग अपेक्षित है।

दूसरे, मांसाहार की निरर्थकता को मानव-शरीर की संरचना के आधार पर भी सिद्ध किया जा सकता है। मानव-शरीर की संरचना उसे निरामिष प्राणी ही सिद्ध करती है। मांसाहार मानव-स्वास्थ्य के लिए कितना हानिकारक है, यह बात अनेक वैज्ञानिक अनुसन्धानों से प्रमाणित हो चुका है। इस लघु निबन्ध में उस सबकी चर्चा कर पाना तो सम्भव नहीं है, किन्तु यह एक सुनिश्चित तथ्य है कि मांसाहार शरीरिक स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है और मनुष्य स्वभावत: एक शाकाहारी प्राणी है।

मांसाहार के समर्थन में सबसे बड़ा तर्क यह दिया जाता है कि बढ़ती हुई मानव-जाति की आबादी को देखते हुए भविष्य में मांसाहार के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प शेष नहीं रहेगा, जिससे मानव जाति की क्षुधा को शान्त किया जा सके। किन्तु उसके विपरीत कृषि के क्षेत्र में भी ऐसे अनेक वैज्ञानिक प्रयोग हुए हैं और हो रहे हैं जो स्पष्ट रूप से यह प्रतिपादित करते हैं कि मनुष्य को अभी शताब्दियों तक निरामिष भोजी बनाकर जिलाया जा सकता है। अनेक आर्थिक सर्वेक्षणों में यह भी प्रमाणित हो चुका है कि शाकाहार मांसाहार की अपेक्षा अधिक सुलभ और सस्ता है। अत: मनुष्य की स्वाद-लोलुपता के अतिरिक्त और कोई तर्क ऐसा नहीं है, जो मांसाहार का समर्थक हो सके। शक्तिदायक आहार के रूप में मांसाहार के समर्थन का एक खोखला दावा है। यह सिद्ध हो चुका है कि मांसाहारियों की अपेक्षा शाकाहारी अधिक शक्ति-सम्पन्न होते हैं और उनमें अधिक काम करने की क्षमता होती है। शेर आदि मांसाहारी प्राणी शाकाहारी प्राणियों पर जो विजय प्राप्त कर लेते हैं, उसका कारण उनकी शक्ति नहीं बल्कि उनके नख, दांत आदि क्रूर शारीरिक अङ्ग ही हैं।

जैन समाज के लिए आज यह विचारणीय प्रश्न है कि वह समाज में बढ़ती जा रही सामिष-भोजन की ललक को कैसे रोकें? आज आवश्यकता इस बात की है कि हमें मांसाहार और शाकाहार के गुण-दोषों की समीक्षा करते हुए तुलनात्मक विवरण से युक्त ऐसा साहित्य प्रकाशित करना होगा, जो आज के युवक को तर्क-संगत रूप से यह अहसास करवा सके कि मांसाहार की अपेक्षा शाकाहार एक उपयुक्त भोजन है। दूसरे समाज में जो मांसाहार के प्रति ललक बढ़ती जा रही है, उसका कारण समाज-नियन्त्रण का अभाव तथा मांसाहारी समाज में बढ़ता हुआ घनिष्ठ परिचय है, जिस पर किसी सीमा तक अंकुश लगाना आवश्यक है।

३. मद्यपान— तीसरा दुर्व्यसन मद्यपान माना गया है और गृहस्थोपासक को इसके त्याग का स्पष्ट निर्देश दिया गया है। बुद्ध ने तो इस दुष्प्रवृत्ति को रोकने के लिए अपने पंचशीलों में अपरिग्रह के स्थान पर मद्यपान-निषेध को स्थान दिया था। यह एक ऐसी बुराई है, जो मानव समाज के गरीब और अमीर दोनों ही वर्गों में हावी है। जैन परम्परा में मद्यपान का निषेध न केवल इसलिए किया गया कि वह हिंसा से उत्पादित है, अपितु इसलिए कि इससे मानवीय विवेक कुण्ठित होता है और जब मानवीय विवेक ही कुण्ठित हो जाएगा तो दूसरी सारी बुराइयाँ व्यक्ति के जीवन में स्वाभाविक रूप से प्रविष्ट हो जावेंगी। आर्थिक और चारित्रिक सभी प्रकार के दुराचरणों के मूल में नशीले पदार्थों का सेवन है। सामान्यतया यह कहा जा सकता है कि मादक द्रव्यों के सेवन से मनुष्य अपनी मानसिक चिन्ताओं को भूल कर अपने तनावों को कम करता है, किन्तु यह एक भ्रान्त धारणा ही है। तनाव के कारण जीवित रखकर केवल क्षण भर के लिए अपने विवेक को खो कर विस्मृति के क्षणों में जाना, तनावों के निराकरण एवं परिमार्जन का सार्थक उपाय नहीं है। मद्यपान को सभी दुर्गुणों का द्वार कहा गया है। वस्तुत: उसकी समस्त बुराइयों पर विचार करने के लिए एक स्वतन्त्र निबन्ध आवश्यक होगा। यहां केवल इतना कहना ही पर्याप्त है कि सारी बुराईयाँ विवेक के कुण्ठित होने पर पनपती हैं और मद्यमान विवेक को कुण्ठित करता है। अत: मनुष्य के मानवीय गुणों को जीवित रखने के लिए इसका त्याग आवश्यक है।

मनुष्य और पशु के बीच यदि कोई विभाजक रेखा है। तो वह विवेक ही है। और जब विवेक ही समाप्त हो जायेगा तो मनुष्य और पशु में कोई अन्तर ही नहीं रह जाएगा। मादक द्रव्यों का सेवन मनुष्य को मानवीय स्तर से गिराकर उसे पाशविक स्तर पर पहुँचा देता है। यह भी एक सुविदित तथ्य है कि जब यह दुर्व्यसन गले लग जाता है तो अपनी अति पर पहुँचाए बिना समाप्त नहीं होता। वह न केवल विवेक को ही समाप्त करता है अपितु आर्थिक और शारीरिक दृष्टि से व्यक्ति को जर्जर बना देता है। आज जैन समाज के सम्पन्न परिवारों में यह दुर्व्यसन भी प्रवेश कर चुका है। मैं ऐसे अनेक परिवारों को जानता हूँ जो धर्म के क्षेत्र में अग्रणी श्रावक माने जाते हैं किन्तु इस दुर्व्यसन से मुक्त नहीं हैं। आज हमें इस प्रश्न पर गम्भीरता से विचार करना होगा कि समाज को इससे किस प्रकार बचाया जाए। जैन समाज ने जो चारित्रिक गरिमा, आर्थिक सम्पन्नता तथा समाज में प्रतिष्ठा अर्जित की थी उसका मूलभूत आधार इन दुर्व्यसनों से मुक्त रहना ही था। इन दुर्व्यसनों के प्रवेश के साथ हमारी चारित्रिक उच्चता और सामाजिक प्रतिष्ठा धीरे-धीरे समाप्त होती जा रही है। और तब एक दिन ऐसा भी आएगा जब हम अपनी आर्थिक सम्पन्नता से हाथ धो बैठेंगे। यदि हम सजग नहीं हुए तो भविष्य हमें क्षमा नहीं करेगा।

४. वेश्यागमन— श्रावक के सप्त दुर्व्यसन-त्याग के अन्तर्गत वेश्यागमन के त्याग का भी विधान किया गया है। यह सुनिश्चित सत्य है कि वेश्यागमन न केवल सामाजिक दृष्टि से आवांछनीय है, अपितु आर्थिक एवं शारीरिक-स्वास्थ्य की दृष्टि से भी अवांछनीय माना गया है। उसके अनौचित्य पर यहाँ कोई विशेष चर्चा करना आवश्यक प्रतीत नहीं होती। सामाजिक सदाचार और पारिवारिक सुख-शान्ति के लिए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वेश्यागमन का त्याग उचित ही है। यह एक शुभ संकेत ही है कि न केवल जैन समाज में अपितु समग्र भारतीय समाज में वेश्यागमन की प्रवृत्ति और वेश्यावृत्ति धीरे-धीरे क्षीण होती जा रही है। यद्यपि इस प्रवृत्ति के जो दूसरे रूप सामने आ रहे हैं वे उसकी अपेक्षा अधिक चिन्तनीय हैं, यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि चाहे खुले रूप में वेश्यावृत्ति पर कुछ अंकुश लगा हो, किन्तु छद्मरूप में यह प्रवृत्ति बढ़ी ही है। जैन समाज के सम्पन्न वर्ग में इन छद्म रूपों के प्रति ललक बढ़ती जा रही है, जिस पर अंकुश लगाना आवश्यक है।

५. परस्त्रीगमन—परस्त्रीगमन परिवार एवं समाज व्यवस्था का घातक है, इसके परिणाम स्वरूप न केवल एक ही परिवार का पारिवारिक जीवन दूषित एवं अशान्त बनता है, अपितु अनेक परिवारों के जीवन अशान्त बन जाते हैं। वेश्यावृत्ति की अपेक्षा यह अधिक दोषपूर्ण है। क्योंकि इसमें छल-छद्म और जीवन का दोहरापन भी जुड़ जाता है। अत: सामाजिक दृष्टि से यह बहुत बड़ा अपराध है। आज कामवासना की तृप्ति का यह छद्म रूप अधिक फैलता जा रहा है। पाश्चात्य देशों की वासनात्मक उच्छृंखलता का प्रभाव हमारे देश में भी हुआ है। क्लबों और होटलों के माध्यम से यह विकृति अधिक तेजी से व्याप्त होती जा रही है। जैन समाज का भी कुछ सम्पन्न एवं धनी वर्ग इसकी गिरफ़्त में आने लगा है। यद्यपि अभी समाज का बहुत बड़ा भाग इस दुर्गुण से मुक्त है किन्तु धीरे-धीरे फैल रही विकृति के प्रति सजग होना आवश्यक है।

६. शिकार—मनोरंजन के निमित्त अथवा मांसाहार के लिए जंगल के प्राणियों का वध करना शिकार कहा जाता है। यह व्यक्ति को क्रूर बनाता है। यदि मनुष्य को मानवीय कोमल गुणों से युक्त बनाये रखना है तो इस वृत्ति का त्याग अपेक्षित है। आज शासन द्वारा भी वन्य प्राणियों के संरक्षण के लिए शिकार की प्रवृत्ति पर अंकुश लगाया जा रहा है। अत: इस प्रवृत्ति के त्याग का औचित्य निर्विवाद है। आज हम इस बात को गौरव से कह सकते हैं कि जैन समाज इस दुर्गुण से मुक्त है, किन्तु आज सौन्दर्य-प्रसाधनों, जिनका उपभोग समाज में धीरे-धीरे बढ़ता जा रहा है, इस निमित्त अव्यक्त रूप से हो रही हिंसा के प्रति सजग रहना आवश्यक है। क्योंकि उनका उत्पादन उपभोक्ताओं के निमित्त ही होता है और यदि हम उनका उपभोग करते हैं तो उस हिंसा एवं क्रूरता से अपने को बचा नहीं सकते हैं। सौन्दर्य-प्रसाधनों के निर्माण एवं परीक्षण के निमित्त हिंसा के जो क्रूरतम रूप अपनाए जाते हैं वे जैन पत्र-पत्रिकाओं में बहुचर्चित रहे हैं। अत: उन सब पर यहां विचार करना आवश्यक प्रतीत नहीं होता। किन्तु इस सन्दर्भ में हमें सजग अवश्य रहना चाहिए कि हम क्रूरता के भागी न बनें।

७. चौर्य-कर्म—दूसरों की सम्पत्ति या दूसरों के अधिकार की वस्तुओं को उनकी बिना अनुमति के ग्रहण करना चोरी है। अपनी आवश्यकता से अधिक संग्रह और संचय को भी चोरी कहा जा सकता है। जैनाचार्यों ने व्यावसायिक अप्रमाणिकता कर अप्रवंचन तथा राष्ट्रीय हितों के विरुद्ध कार्य करना आदि को भी चोरी के अन्तर्गत माना है। यद्यपि सामान्यतया जैन परिवार इस दुर्व्यसन से मुक्त कहे जा सकते हैं किन्तु जैनाचार्यों ने इसकी जो सूक्ष्म व्याख्या की है, उस आधार पर आज का गृहस्थ वर्ग इस दुर्व्यसन से कितना मुक्त है, यह कहना कठिन है। व्यावसायिक अप्रमाणिकता और कर-अपवंचन आज सामान्य हो गये हैं। व्यावसायिक अप्रमाणिकता के इस युग में इसकी प्रासंगिकता को नकारा तो नहीं जा सकता किन्तु वर्तमान युग में कौन इससे कितना बच सकेगा, इस पर व्यावहारिक दृष्टि से विचार करना अपेक्षित है।

गृहस्थ-जीवन की व्यावहारिक नीति

गृहस्थ-जीवन में कैसे जीना चाहिए? इस सम्बन्ध में थोड़ा निर्देश आवश्यक है। गृहस्थ उपासक का व्यावहारिक जीवन कैसा हो, इस सम्बन्ध में जैन आगमों में यत्र-तत्र बिखरे हुए कुछ निर्देश मिल जाते हैं। लेकिन बाद के जैन विचारकों ने कथा-साहित्य, उपदेश-साहित्य एवं आचार-सम्बन्धी साहित्य में इस सन्दर्भ में एक निश्चित रूप रेखा प्रस्तुत की है। यह एक स्वतन्त्र शोध का विषय है। हम अपने विवेचन को आचार्य नेमिचन्द्र के प्रवचनसारोद्धार, आचार्य हेमचन्द्र के योगशास्त्र तथा पं० आशाधरजी के सागारधर्मामृत तक ही सीमित रखेंगे।

सभी विचारकों की यह मान्यता है कि जो व्यक्ति जीवन के सामान्य व्यवहारों में कुशल नहीं है, वह आध्यात्मिक जीवन की साधना में आगे नहीं बढ़ सकता। धार्मिक या आध्यात्मिक होने के लिए व्यावहारिक या सामाजिक होना पहली शर्त है। व्यवहार से ही परमार्थ साधा जा सकता है। धर्म की प्रतिष्ठा के पहले जीवन में व्यवहारपटुता एवं सामाजिक जीवन जीने की कला का आना आवश्यक है। जैनाचार्यों ने इस तथ्य को बहुत पहले ही समझ लिया था। अत: अणुव्रत-साधना के पूर्व ही इन योग्यताओं का सम्पादन आवश्यक है।

आचार्य हेमचन्द्र ने इन्हें "मार्गानुसारी" गुण कहा है। धर्म-मार्ग का अनुसारण करने के लिए इन गुणों का होना आवश्यक है। उन्होंने योगशास्त्र के द्वितीय एवं तृतीय प्रकाश में निम्न ३५ मार्गानुसारी गुणों का विवेचन किया है:—(१) न्याय-नीतिपूर्वक ही धनोपार्जन करना। (२) समाज में जो ज्ञानवृद्ध और वयोवृद्ध शिष्ट-जन हैं, उनका यथोचित सम्मान करना, उनसे शिक्षा ग्रहण करना और उनके आचार की प्रशंसा करना। (३) समान कुल और आचार-विचार वाले, स्वधर्मी किन्तु भिन्न गोत्रोत्पन्न जनों की कन्या के साथ विवाह करना। (४) चोरी, परस्त्रीगमन, असत्यभाषण आदि पापकर्मों का ऐहिक-पारलौकिक कटुक-विपाक जानकर, पापाचार का त्याग करना। (५) अपने देश के कल्याणकारी आचार-विचार एवं संस्कृति का पालन करना तथा संरक्षण करना। (६) दूसरों की निन्दा न करना। (७) ऐसे मकान में निवास करना जो न अधिक खुला और न अधिक गुप्त हो, जो सुरक्षा वाला भी हो और जिसमें अव्याहत वायु एवं प्रकाश आ सके। (८) सदाचारी जनों की संगति करना। (९) माता-पिता का सम्मान-सत्कार करना, उन्हें सब प्रकार से सन्तुष्ट रखना। (१०) जहाँ वातावरण शान्तिप्रद न हो, जहाँ निराकुलता के साथ जीवन-यापन करना कठिन हो, ऐसे ग्राम या नगर में निवास न करना। (११) देश, जाति एवं कुल से विरुद्ध कार्य न करना, जैसे मदिरापान आदि। (१२) देश और काल के अनुसार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वस्त्राभूषण धारण करना। (१३) आय से अधिक व्यय न करना और अयोग्य क्षेत्र में व्यय न करना। आय के अनुसार वस्त्र पहनना। (१४) धर्मश्रवण की इच्छा रखना, अवसर मिलने पर श्रवण करना, शास्त्रों का अध्ययन करना, उन्हें स्मृति में रखना, जिज्ञासा से प्रेरित होकर शास्त्रचर्चा करना, विरुद्ध अर्थ से बचना, वस्तुस्वरूप का परिज्ञान प्रापत करना और तत्त्वज्ञ बनना बुद्धि के इन आठ गुणों को प्राप्त करना। (१५) धर्मश्रवण करके जीवन को उत्तरोत्तर उच्च और पवित्र बनाना। (१६) अजीर्ण होने पर भोजन न करना, यह स्वास्थ्यरक्षा का मूल मन्त्र है। (१७) समय पर प्रमाणोपेत भोजन करना, स्वाद के वशीभूत हो अधिक न खाना। (१८) धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थ का इस प्रकार सेवन करना कि जिससे किसी में बाधा उत्पन्न न हो। धनोपार्जन के बिना गृहस्थाश्रम चल नहीं सकता और गृहस्थ काम-पुरुषार्थ का भी सर्वथा त्यागी नहीं हो सकता, तथापि धर्म को बाधा पहुँचा कर अर्थ-काम का सेवन न करना चाहिए। (१९) अतिथि, साधु और दीन जनों को यथायोग्य दान देना। (२०) आग्रहशील न होना। (२१) सौजन्य, औदार्य, दाक्षिण्य आदि गुणों को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होना। (२२) अयोग्य देश और अयोग्य काल में गमन न करना। (२३) देश, काल, वातावरण और स्वकीय सामर्थ्य का विचार करके ही कोई कार्य प्रारम्भ करना। (२४) आचारवृद्ध और ज्ञानवृद्ध पुरुषों को अपने घर आमन्त्रित करना, आदरपूर्वक बिठलाना, सम्मानित करना और उनकी यथोचित सेवा करना। (२५) माता-पिता, पत्नी, पुत्र आदि आश्रितों का यथायोग्य भरण-पोषण करना, उनके विकास में सहायक बनना। (२६) दीर्घदर्शी होना। किसी भी कार्य को प्रारम्भ करने के पूर्व ही उसके गुणावगुण पर विचार कर लेना। (२७) विवेकशील होना। जिसमें हित-अहित, कृत्य-अकृत्य का विवेक नहीं होता, उस पशु के समान पुरुष को अन्त में पश्चात्ताप करना पड़ता है। (२८) गृहस्थ को कृतज्ञ होना चाहिए। उपकारी के उपकार को विस्मरण कर देना उचित नहीं। (२९) अहंकार से बचकर विनम्र होना। (३०) लज्जाशील होना। (३१) करुणाशील होना। (३२) सौम्य होना। (३३) यथाशक्ति परोपकार करना। (३४) काम, क्रोध, मोह, मद और मात्सर्य, इन आन्तरिक रिपुओं से बचने का प्रयत्न करना और (३५) इन्द्रियों को उच्छृंखल न होने देना। इन्द्रियविजेता गृहस्थ ही धर्म की आराधना करने की पात्रता प्राप्त करता है।

आचार्य नेमिचन्द्र ने प्रवचनसारोद्धार में भिन्न रूप से श्रावक के २१ गुणों का उल्लेख किया है और यह माना है कि इन २१ गुणों को धारण करने वाला व्यक्ति ही अणुव्रतों की साधना का पात्र होता है। आचार्य द्वारा निर्देशित श्रावक के २१ गुण निम्न हैं:—(१) अक्षुद्रपन (विशाल-हृदयता), (२) स्वस्थता, (३) सौम्यता, (४) लोकप्रियता, (५) अक्रूरता, (६) पापभीरुता, (७) अशठता, (८) सुदक्षता (दानशीलता), (९) लज्जाशीलता, (१०) दयालुता, (११) गुणानुरागता, (१२) प्रियसम्भाषण या सौम्यदृष्टि, (१३) माध्यस्थवृत्ति, (१४) दीर्घदृष्टि, (१५) सत्कथक एवं सुपक्षयुक्त, (१६) नम्रता, (१७) विशेषज्ञता, (१८) वृद्धानुगामी, (१९) कृतज्ञ, (२०) परहितकारी (परोपकारी) और (२१) लब्धलक्ष्य (जीवन के साध्य का ज्ञाता)।

पं० आशाधर जी ने अपने ग्रंथ सागार-धर्मामृत में निम्न गुणों का निर्देश किया है:—(१) न्यायपूर्वक धन का अर्जन करने वाला, (२) गुणीजनों को माननेवाला, (३) सत्यभाषी, (४) धर्म, अर्थ और काम (त्रिवर्ग) का परस्पर विरोधरहित सेवन करनेवाला, (५) योग्य स्त्री, (६) योग्य स्थान (मोहल्ला), (७) योग्य मकान से युक्त, (८) लज्जाशील, (९) योग्य आहार, (१०) योग्य आचरण, (११) श्रेष्ठ पुरुषों की संगति, (१२) बुद्धिमान्, (१३) कृतज्ञ, (१४) जितेन्द्रिय, (१५) धर्मोपदेश श्रवण करने वाला, (१६) दयालु, (१७) पापों से डरने वाला—ऐसा व्यक्ति सागारधर्म (गृहस्थ धर्म) का आचरण करे। पं० आशाधर जी ने जिन गुणों का निर्देश किया है उनमें से अधिकांश का निर्देश दोनों पूर्ववर्ती आचार्यों के द्वारा किया जा चुका है।

उपर्युक्त विवेचना से जो बात अधिक स्पष्ट होती है, वह यह है कि जैन आचार-दर्शन मनुष्य जीवन के व्यावहारिक पक्ष की उपेक्षा करके नहीं चलता। जैनाचार्यों ने जीवन के व्यावहारिक पक्ष को गहराई से परखा है और उसे इतना सुसंस्कृत बनाने का प्रयास किया है कि जिसके द्वारा व्यक्ति इस जगत् में भी सफल जीवन जी सकता है। यही नहीं, इन सद्गुणों में से अधिकांश का सम्बन्ध हमारे सामाजिक जीवन से है। वैयक्तिक जीवन में इनका विकास सामाजिक जीवन के मधुर सम्बन्धों का सृजन करता है। ये वैयक्तिक जीवन के लिए जितने उपयोगी हैं, उससे अधिक सामाजिक जीवन के लिए आवश्यक हैं। जैनाचार्यों के अनुसार ये आध्यात्मिक साधना के प्रवेशद्वार हैं। साधक इनका योग्य रीति से आचरण करने के बाद ही अणुव्रतों और महाव्रतों की साधना की दिशा में आगे बढ़ सकता है।

श्रावक के बारह व्रतों की प्रासंगिकता

जैनधर्म में श्रावक के निम्न बारह व्रत हैं—

(१) अहिंसा-अणुव्रत
(२) सत्य-अणुव्रत
(३) अचौर्य-अणुव्रत
(४) स्वपत्नी-संतोषव्रत
(५) परिग्रह-परिमाण व्रत
(६) दिक्-परिमाण व्रत
(७) उपभोग-परिभोग-परिमाण व्रत
(८) अनर्थदण्ड-विरमण व्रत
(९) सामायिक व्रत
(१०) देशावकासिक व्रत
(११) प्रोषधोपवास व्रत
(१२) अतिथि-संविभाग व्रत

अहिंसा-अणुव्रत—गृहस्थोपासक संकल्पपूर्वक त्रसप्राणियों (चलने फिरने वाले) की हिंसा का त्याग करता है। हिंसा के चार रूप हैं— १. आक्रामक (संकल्पी), २. सुरक्षात्मक (विरोधजा), ३. औद्योगिक (उद्योगजा), ४. जीवन-यापन के अन्य कार्यों में होने वाली (आरम्भजा)।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हिंसा के ये चारों रूप भी दो वर्गों में विभाजित किये गये हैं— १. हिंसा की जाती है और २. हिंसा करनी पड़ती है। इसमें आक्रामक में हिंसा की जाती है, जबकि सुरक्षात्मक, औद्योगिकी और आरम्भजा में हिंसा करनी पड़ती है। सुरक्षात्मक, औद्योगिक और आरम्भजा हिंसा में हिंसा का निर्णय तो होता है, किन्तु वह निर्णय विवशता में लेना होता है, अत: उसे स्वतन्त्र ऐच्छिक निर्णय नहीं कह सकते हैं। इन स्थितियों में हिंसा की नहीं जाती, अपितु करनी पड़ती है। सुरक्षात्मक हिंसा और औद्योगिक हिंसा में त्रस जीवों की हिंसा भी करनी पड़ सकती है, यद्यपि औद्योगिक हिंसा में भी त्रस जीवों की हिंसा केवल सुरक्षात्मक दृष्टि से ही करनी पड़ती है। इसके अतिरिक्त हिंसा का एक रूप वह है, जिसमें हिंसा हो जाती है, जैसे—कृषिकार्य करते हुए सावधानी के बावजूद हो जाने वाली त्रस-हिंसा। जीवनरक्षण एवं आजीविकोपार्जन में होने वाली हिंसा से उसका व्रत दूषित नहीं माना गया है। सामान्यतया यह कहा जाता है कि जैनधर्म में अहिंसा का पालन जिस सूक्ष्मता के साथ किया जाता है, वह उसे अव्यावहारिक बना देता है किन्तु यदि हम गृहस्थ उपासक के अहिंसा-अणुव्रत के उपर्युक्त विवेचन को देखते हैं तो यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि अहिंसा की जैन अवधारणा किसी भी स्थिति में अप्रासंगिक और अव्यावहारिक नहीं है। वह न तो व्यक्ति या राष्ट्र के आत्म-सुरक्षा के प्रयत्न में बाधक है और न उसकी औद्योगिक प्रगति में। उसका विरोध है तो मात्र आक्रामक हिंसा से और आज कोई भी विवेकशील प्राणी या राष्ट्र आक्रामक हिंसा का समर्थक नहीं हो सकता है।

गृहस्थ उपासक के अहिंसाणुव्रत के जो पांच अतिचार (दोष) बताये गये हैं वे भी पूर्णतया व्यावहारिक और प्रासंगिक हैं। इन अतिचारों की प्रासंगिक व्याख्या निम्न है—

१. बन्धन—प्राणियों को बंधन में डालना। आधुनिक सन्दर्भ में अधीनस्थ कर्मचारियों को निश्चित समयावधि से अधिक रोककर कार्य लेना अथवा किसी की स्वतन्त्रता का अपहरण करना भी इसी कोटि में आता है।

२. वध—अंगोपांग का छेदन और घातक प्रहार करना।

३. वृत्तिच्छेद—किसी की आजीविका को छीनना या उसमें बाधा डालना।

४. अतिभार—प्राणी की सामर्थ्य से अधिक बोझ लादना या कार्य लेना।

५. भक्त-पान-निरोध—अधीनस्थ पशुओं एवं कर्मचारियों की समय पर एवं आवश्यक भोजन-पानी की व्यवस्था न करना। उपर्युक्त अनैतिक आचरणों की प्रासंगिकता आज भी यथावत् है। शासन ने इनकी प्रासंगिकता के आधार पर इन्हें रोकने हेतु नियम बनाये हैं जबकि जैनाचार्यों ने दो हजार वर्ष पूर्व इन नियमों की व्यवस्था कर दी थी।

२. सत्याणुव्रत—गृहस्थ को निम्न पाँच कारणों से असत्य-भाषण का निषेध किया गया है—

१. वर-कन्या के सम्बन्ध में असत्य जानकारी देना।

२. पशु आदि के क्रय-विक्रय हेतु असत्य जानकारी देना।

३. भूमि आदि के स्वामित्व के सम्बन्ध में असत्य जानकारी देना।

४. किसी धरोहर को दबाने या अपने व्यक्तिगत स्वार्थ को सिद्ध करने हेतु असत्य बोलना।

५. झूठी साक्षी देना।

इस अणुव्रत के पांच अतिचार या दोष निम्न हैं—

१. अविचारपूर्वक बोलना या मिथ्या-दोषारोपण करना।

२. गोपनीयता भंग करना।

३. स्वपत्नी या मित्र के गुप्त रहस्यों का प्रकट करना।

४. मिथ्या-उपदेश अर्थात् लोगों को बहकाना।

५. कूट-लेखकरण अर्थात् झूठे दस्तावेज तैयार करना, नकली मुद्रा (मोहर) लगाना या जाली हस्ताक्षर करना।

उपर्युक्त सभी निषेधों की प्रासंगिकता आज भी निर्विवाद है। वर्तमान युग में भी ये सभी दूषित प्रवृत्तियाँ प्रचलित हैं तथा शासन और समाज इन पर रोक लगाना चाहता है।

३. अस्तेयाणुव्रत—वस्तु के स्वामी की अनुमति के बिना किसी वस्तु का गहण करना चोरी है। गृहस्थ साधक को इस दूषित प्रवृत्ति से बचने का निर्देश दिया गया है। इसकी विस्तृत चर्चा हम सप्त दुर्व्यसन के संदर्भ में कर चुके हैं, अत: यहाँ केवल इसके निम्न अतिचारों की प्रासंगिकता की चर्चा करेंगे—

१. चोरी की वस्तु खरीदना।

२. चौर्यकर्म में सहयोग देना।

३. शासकीय नियमों का अतिक्रमण तथा कर अपवंचन।

४. माप-तौल की अप्रमाणिकता।

५. वस्तुओं में मिलावट करना।

उपर्युक्त पाँचों दुष्प्रवृत्तियाँ आज भी अनुचित एवं शासन द्वारा दण्डनीय मानी जाती हैं। अत: इनका निषेध अप्रासंगिक या अव्यावहारिक नहीं है। वर्तमान युग में ये दुष्प्रवृत्तियाँ बढ़ती जा रही हैं, अत: इन नियमों का पालन अपेक्षित है।

४. स्वपत्नी-संतोष व्रत— गृहस्थोपासक की काम-प्रवृत्ति पर अंकुश लगाने के हेतु इस व्रत का विधान किया है। यह यौन-सम्बन्धों को नियन्त्रित एवं परिष्कारित करता है और इस संदर्भ में सामाजिक व्यवस्था को सुदृढ़ करता है। स्वपत्नी के अतिरिक्त अन्यत्र यौन सम्बन्ध रखना जैन श्रावक के लिये निषिद्ध है। पारिवारिक एवं सामाजिक शान्ति एवं सुव्यवस्था की दृष्टि से इस व्रत की उपयोगिता निर्विवाद है। यह व्रत पति-पत्नी के मध्य एक-दूसरे के प्रति आस्था जागृत करता है और उनके पारस्परिक प्रेम एवं समर्पणभाव को सुदृढ़ करता है। जब भी इस व्रत का भंग होता है, पारिवारिक जीवन में अशांति एवं दरार पैदा हो जाती है।

इस व्रत के निम्न पांच अतिचार या दोष माने गये हैं—

१. अल्पवय की विवाहिता स्त्री से अथवा समय-विशेष के लिए ग्रहण की गई स्त्री से अर्थात् वेश्या आदि से सम्भोग करना।

२. अविवाहित स्त्री—जिसमें परस्त्री और वेश्या भी समाहित है,

Jain Education International   For Private & Personal Use Only   www.jainelibrary.org

ये यौन-सम्बन्ध स्थापित करना।

३. अप्राकृतिक साधनों से काम-वासना को सन्तुष्ट करना, जैसे— हस्त-मैथुन, गुदा-मैथुन, समलिंगी-मैथुन आदि।

४. पर-विवाहकरण अर्थात् स्व-सन्तान के अतिरिक्त दूसरों के विवाह सम्बन्ध करवाना। वर्तमान संदर्भ में इसकी एक व्याख्या यह भी हो सकती है कि एक पत्नी के होते हुए दूसरा विवाह करना।

५. काम-भोग की तीव्र अभिलाषा।

उपर्युक्त पांच निषेधों में कोई भी ऐसा नहीं है, जिसे अव्यावहारिक और वर्तमान संदर्भो में अप्रासंगिक कहा जा सके।

५. परिग्रह-परिमाण व्रत—इस व्रत के अन्तर्गत गृहस्थ उपासक से यह अपेक्षा की गई है कि वह अपनी सम्पत्ति अर्थात् जमीन-जायदाद, बहुमूल्य धातुएँ, धन-धान्य, पशु एवं अन्य वस्तुओं की एक सीमा-रेखा निश्चित करे और उसका अतिक्रमण नहीं करे। व्यक्ति में संग्रह की स्वाभाविक प्रवृत्ति है और किसी सीमा तक गृहस्थ-जीवन में संग्रह आवश्यक भी है, किन्तु यदि संग्रह-वृत्ति को नियन्त्रित नहीं किया जावेगा तो समाज में गरीब और अमीर की खाई अधिक गहरी होगी और वर्ग-संघर्ष अपरिहार्य हो जावेगा। परिग्रह-परिमाणव्रत या इच्छा-परिमाणव्रत इसी संग्रह-वृत्ति को नियन्त्रित करता है और आर्थिक वैषम्य का समाधान प्रस्तुत करता है। यद्यपि प्राचीन ग्रन्थों में इस सम्बन्ध में कोई सीमा-रेखा नियत नहीं की गई है, उसे व्यक्ति के स्व-विवेक पर छोड़ दिया गया था, किन्तु आधुनिक संदर्भ में हमें व्यक्ति की आवश्यकता और राष्ट्र की सम्पन्नता के आधार पर सम्पत्ति या परिग्रह की कोई अधिकतम सीमा निर्धारित करनी होगी, यही एक ऐसा उपाय है जिससे गरीब और अमीर के बीच की खाई को पाटा जा सकता है। यह भय निरर्थक है कि अनासक्ति और अपरिग्रह के आदर्श से आर्थिक-प्रगति प्रभावित होगी। जैन धर्म अर्जन का उसी स्थिति में विरोधी है, जब कि उसके साथ हिंसा और शोषण की बुराइयाँ जुड़ती हैं। हमारा आदर्श है— सौ हाथों से इकट्ठा करो और हजार हाथों से बाँट दो। गृहस्थ अर्थोपार्जन करे, किन्तु वह न तो संग्रह के लिये हो और न स्वयं के भोग के लिये, अपितु उसका उपयोग लोक-मंगल के लिये और दीन-दु:खियों की सेवा में हो; वर्तमान सन्दर्भ में इस व्रत की उपयोगिता निर्विवाद है। यदि आज हम स्वेच्छा से नहीं अपनाते हैं तो या तो शासन हमें इसके लिये बाध्य करेगा या फिर अभावग्रस्त वर्ग हमसे छीन लेगा, अत: हमें समय रहते सम्हल जाना चाहिये।

६. दिक्-परिमाणव्रत—तृष्णा असीम है, धन के लोभ में मनुष्य कहाँ-कहाँ नहीं भटका है। राज्य की तृष्णा ने साम्राज्यवाद को जन्म दिया, तो धन-लोभ में व्यावसायिक उपनिवेश बने। अर्थ-लोलुपता तथा विषय-वासनाओं की पूर्ति के निमित्त आज भी व्यक्ति देश-विदेश में भटकता है। दिक्-परिमाणव्रत मनुष्य की इसी भटकन को नियन्त्रित करता है। गृहस्थ उपासक के लिये यह आवश्यक है कि वह अपने अर्थोपार्जन एवं विषय-भोग का क्षेत्र सीमित करे। इसीलिए उसे विविध दिशाओं में अपने आवागमन का क्षेत्र मर्यादित कर लेना होता है। यद्यपि वर्तमान संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि इससे व्यक्ति का कार्यक्षेत्र सीमित हो जावेगा किन्तु जो वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति से अवगत हैं, वे यह भली प्रकार जानते हैं कि आज कोई भी राष्ट्र विदेशी व्यक्ति को अपने यहाँ पैर जमाने देना नहीं चाहता है, दूसरे यदि हम अन्तर्राष्ट्रीय शोषण को समाप्त करना चाहते हैं तो हमें इस बात से सहमत होना होगा कि व्यक्ति के धनोपार्जन की गतिविधि का क्षेत्र सीमित हो। अत: इस व्रत को अप्रासंगिक नहीं कहा जा सकता है।

७. उपभोग-परिभोग-परिमाण व्रत—व्यक्ति की भोगवृत्ति पर अंकुश लगाना ही इस व्रत का मूल उद्देश्य है। इस व्रत के अन्तर्गत श्रावक को अपने दैनंदिन जीवन के उपभोग की प्रत्येक वस्तु की संख्या, मात्रा आदि निर्धारित करनी होती है—जैसे वह कौन सा मंजन करेगा, किस प्रकार के चावल, दाल, सब्जी, फल-मिष्ठान्न आदि का उपभोग करेगा, उनकी मात्रा क्या होगी, उसके वस्त्र, जूते, शय्या आदि किस प्रकार के और कितने होंगे। वस्तुत: इस व्रत के माध्यम में उसकी भोग-वृत्ति को संयमित कर उसके जीवन को सात्विक और सादा बनाने का प्रयास किया गया है, जिसकी उपयोगिता को कोई भी विचारशील व्यक्ति अस्वीकार नहीं करेगा। आज जब मनुष्य उद्दाम भोग-वासना में आकण्ठ डूबता जा रहा है, इस व्रत का महत्त्व स्पष्ट है।

जैन आचार्यों ने उपभोग-परिभोग-परिमाण व्रत के माध्यम से यह भी स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि गृहस्थ उपासक को किन साधनों के द्वारा अपनी अजीविका का उपार्जन करना चाहिए और किन साधनों से आजीविका का उपार्जन नहीं करना चाहिए। गृहस्थ उपासक के लिए निम्नलिखित पन्द्रह प्रकार के व्यवसायों के द्वारा आजीविका अर्जित करना निषिद्ध माना गया है—

१. अङ्गारकर्म—जैन आचार्यों ने इसके अन्तर्गत आदमी को अग्नि प्रज्ज्वलित करके किये जाने वाले सभी व्यवसायों को निषिद्ध बताया है; जैसे—कुम्भकार, स्वर्णकार, लौहकार आदि के व्यवसाय। किन्तु मेरी दृष्टि में इसका तात्पर्य जंगल में आग लगाकर कृषियोग्य भूमि तैयार करना है।

२. वनकर्म—जंगल कटवाने का व्यवसाय।

३. शकटकर्म—बैलगाड़ी, रथ आदि बनाकर बेचने का व्यवसाय।

४. भाटककर्म—बैल, अश्व आदि पशुओं को किराये पर चलाने का व्यवसाय।

५. स्फोटिकर्म—खान-खोदने का व्यवसाय।

६. दन्तवाणिज्य—हाथी-दाँत आदि हड्डी का व्यवसाय। उपलक्षण से चमड़े तथा सींग आदि के व्यवसायी भी इसमें सम्मिलित हैं।

७. लाक्षा-वाणिज्य—लाख का व्यवसाय।

८. रस-वाणिज्य—मद्य, मांस, मधु आदि का व्यापार।

९. विष-वाणिज्य—विभिन्न प्रकार के विषों का व्यापार।

१०. केष-वाणिज्य—बालों एवं रोमयुक्त चमड़े का व्यापार ।

११. यन्त्रपीडनकर्म—यन्त्र, साँचे, कोल्हू आदि का व्यापार। उपलक्षण से अस्त्र-शस्त्रों का व्यापार भी इसी में सम्मिलित है।

१२. नीलाच्छनकर्म—बैल आदि पशुओं को नपुंसक बनाने का व्यवसाय।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१३. दावाग्निदापन—जंगल में आग लगाने का व्यवसाय।

१४. तालाब, झील और सरोवर आदि को सुखाना।

१५. व्यभिचार-वृत्ति के लिए वेश्या आदि को नियुक्त कर उनके द्वारा धनोपार्जन करवाना। उपलक्षण से दुष्कर्मों के द्वारा आजीविका का अर्जन करना।

आधुनिक सन्दर्भ में उपर्युक्त निषिद्ध व्यवसायों की सूची में परिमार्जन की आवश्यकता प्रतीत होती है। आज व्यवसायों के ऐसे बहुत से रूप सामने आये हैं, जो अधिक अनैतिक और हिंसक हैं। अत: इस सन्दर्भ में पर्याप्त विचार-विमर्श करके निषिद्ध व्यवसायों की एक नवीन तालिका बनायी जानी चाहिए।

८. अनर्थदण्ड-परित्याग— मानव अपने जीवन में अनेक ऐसे पापकर्म करता है, जिनके द्वारा उसका अपना कोई हित साधन नहीं होता। इन निष्प्रयोजन किये जाने वाले पाप कर्मों से गृहस्थ उपासक को बचाना इस व्रत का मुख्य उद्देश्य है। निष्प्रयोजन हिंसा और असत्य-सम्भाषण की प्रवृत्तियाँ मनुष्य में सामान्य रूप से पायी जाती है। जैसे, स्नान में आवश्यकता से अधिक जल का अपव्यय करना, भोजन में जूठन छोड़ना, सम्भाषण में अपशब्दों का प्रयोग करना, स्वास्थ्य के लिए हानिकर मादक द्रव्यों का सेवन करना, अश्लील और कामवर्द्धक साहित्य का पढ़ना, आदि! निरर्थक प्रवृत्तियाँ अविवेकी और अनुशासनहीन जीवन की द्योतक हैं। इस व्रत के अन्तर्गत गृहस्थ उपासक से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अशुभचिन्तन, पापकर्मोपदेश, हिंसक उपकरणों के दान तथा प्रमादाचरण से बचे। इस व्रत के निम्नलिखित पांच अतिचार माने गये हैं—

१. कामवासना को उत्तेजित करने वाली चेष्टाएँ करना।

२. हाँथ, मुँह, आँख आदि से अभद्र चेष्टाएँ करना।

३. अधिक वाचाल होना या निरर्थक बात करना।

४. अनावश्यक रूप से हिंसा के साधनों का संग्रह करना और उन्हें दूसरों को देना।

५. आवश्यकता से अधिक उपभोग की सामग्री का संचय करना।

यदि हम उपर्युक्त व्रत और उसके दोषों के सन्दर्भ में विचार करें तो वर्तमान युग में इसकी सार्थकता स्पष्ट हो जाती है। मानव-समाज में आज भी ये सभी चारित्रिक विकृतियाँ विद्यमान हैं और एक सभ्य समाज के निर्माण के लिए इनका परिमार्जन आवश्यक है।

श्रावक के उपर्युक्त पांच अणुव्रतों और तीन गुणव्रतों का बहुत कुछ सम्बन्ध हमारे सामाजिक जीवन से है और हमने जब उनकी प्रासंगिकता की कोई चर्चा की है तो वह सामाजिक दृष्टि से ही की है। गृहस्थ उपासक के शेष चार शिक्षाव्रतों में सामायिक, देशावकासिक, प्रौषधोपवास का सम्बन्ध विशिष्ट रूप से वैयक्तिक जीवन से है। यद्यपि अतिथि-संविभाग व्रत की व्याख्या पुन: सामाजिक सन्दर्भ में की जा सकती है।

९. सामायिक व्रत— सामायिक समभाव की साधना है। सुख-दु:ख, हानि-लाभ, जय-पराजय में चित्तवृत्ति का समत्व ही सामायिक है। आज के युग में जब मनुष्य मानसिक विक्षोभों और तनावों की स्थिति में जी रहा है, सामायिक व्रत की साधना की उपयोगिता सुस्पष्ट हो जाती है। वर्तमान में मात्र वेशपरिवर्तन करके कुछ समय के लिए बाह्य हिंसक प्रवृत्तियों से दूर हो जाना सामायिक का बाह्य रूप तो हो सकता है, किन्तु वह उसकी अन्तरात्मा नहीं है। आज हमारी सामायिक की साधना में समभावरूपी अन्तरात्मा मृतप्राय होती जा रही है और वह एक रूढ़-क्रिया मात्र बन कर रह गयी है। सामायिक से मानसिक तनावों का निराकरण और चित्तवृत्ति को शान्त और निराकुल बनाने के लिए कोई उपयुक्त पद्धति विकसित की जाये, यह आज के युग की महती आवश्यकता है।

१०. देशावकासिक व्रत— इस व्रत का मुख्य उद्देश्य आंशिक रूप से गृहस्थ-जीवन से निवृत्ति प्राप्त करना है। मनुष्य स्वाभाविक रूप से परिवर्तनप्रिय है। घर-गृहस्थी के कोलाहलपूर्ण और अशान्त जीवन से निवृत्ति लेकर एक शान्त जीवन का अभ्यास एवं आस्वाद करना ही इसका लक्ष्य है। वैसे भी हम सप्ताह में एक दिन अवकाश मनाते हैं। देशावकासिक व्रत इसी साप्ताहिक अवकाश का आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में उपयोग है और इस दृष्टि से इसकी सार्थकता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

११. प्रौषधोपवास— यह व्रत भी मुख्य रूप से निवृत्तिपरक जीवन की साधना के निमित्त है। उपवासपूर्वक विषयवासनाओं पर नियन्त्रण रखना ही इस व्रत का मूल उद्देश्य है। इसे हम एक दिन के लिए ग्रहण किया हुआ श्रमण-जीवन भी कह सकते हैं। इसकी सार्थकता वैयक्तिक साधनात्मक जीवन की दृष्टि से ही आँकी जा सकती है।

१२. अतिथि-संविभाग व्रत— अतिथि-संविभाग व्रत गृहस्थ के सामाजिक दायित्व का सूचक है। अपने और अपने परिजनों के उदरपोषण के साथ-साथ गृहस्थ पर निवृत्त-साधकों और समाज के असहाय एवं अभावग्रस्त व्यक्तियों के भरण-पोषण का दायित्व भी है। प्रस्तुत व्रत का उद्देश्य गृहस्थ में सेवा और दान की वृत्ति को जागृत करना है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। हमारा जीवन पारस्परिक सहयोग और सहभागिता के आधार पर ही चलता है। दूसरों के सुख-दु:ख में सहभागी बनना और अभावग्रस्तों, पीड़ितों और दीन-दु:खियों की सेवा करना— यह गृहस्थ का अनिवार्य धर्म है। यद्यपि आज इस प्रवृत्ति को भिक्षावृत्ति को प्रोत्साहन देने वाली मानकर अनुपयुक्त कहा जाता है, किन्तु जब तक समाज में अभावग्रस्त, पीड़ित और रोगी व्यक्ति हैं—सेवा और सहकार की आवश्यकता अपरिहार्य रूप से बनी रहेगी और यदि शासन इस दायित्व को नही सम्भालता है तो यह प्रत्येक गृहस्थ का कर्तव्य है कि वह दान और सेवा के मूल्यों को जीवित बनाये रखे। यह प्रश्न मात्र दया या करुणा का नहीं है, अपितु दायित्व-बोध का है।

उपसंहार

जैन धर्म के श्रावक-आचार की उपर्युक्त समीक्षा करने के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन श्रावकों के लिए प्रतिपादित आचार के नियम वर्तमान सामाजिक सन्दर्भों में भी प्रासंगिक सिद्ध होते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रावक-आचार के विधि-निषेधों में युगानुकूल जो छोटे-मोटे परिवर्तन अपेक्षित हैं, उन पर विचार किया जा सकता है और युगानुकूल श्रावक धर्म की आचार-विधि आगमिक नियमों को यथावत् रखते हुए बनायी जा सकती है। आज हमारा दुर्भाग्य यही है कि हम जैन मुनि के आचार-नियमों पर तो अभी भी गम्भीर चर्चाएँ करते है, किन्तु श्रावक धर्म की आचार-विधि पर कोई गम्भीरतापूर्वक विचार नहीं किया जाता। आज यह मान लिया गया है कि आचार सम्बन्धी विधि-निषेध मुनियों के सन्दर्भ में ही हैं। गृहस्थों की आचार-विधि ऐसी है या ऐसी होनी चाहिए, इस बात पर हमारा कोई ध्यान नहीं जाता। यद्यपि कभी-कभी जमीकन्द-खाना चाहिए या नहीं खाना चाहिए, ऐसे छोटे-छोटे प्रश्न उठा लिये जाते हैं, किन्तु श्रावक-आचार की मूलभूत दृष्टि क्या हो? और उसके लिए युगानुकूल सर्वसामान्य आचार-विधि क्या हो? इस बात पर हमारी कोई दृष्टि नहीं जाती। यह एक शुभ संकेत है कि अखिल भारती जैन विद्वत् परिषद् ने इस प्रश्न को लेकर एक विचार-गोष्ठी आयोजित की। यद्यपि यह एक प्रारम्भिक बिन्दु है किन्तु मुझे विश्वास है कि यह प्राथमिक प्रयास भी कभी बृहद् रूप लेगा और हम अपने श्रावक वर्ग को एक युगानुकूल आचारविधि दे पाने में सफल होंगे।

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org